

# नक्सलवाद : हिंसा से बदलाव संभव है?

**क**ें द्रीय गृह सचिव जी के पिल्लई ने छत्तीसगढ़ के नक्सल प्रभावित क्षेत्रों के दौर के बाद कहा कि यह समस्या तीन से सात साल में खत्म कर दी जायेगी। पर कैसे? इस संबंध में कुछ कहना उन्होंने जरूरी नहीं समझा। नक्सलवाद की समस्या सिर्फ छत्तीसगढ़ में ही नहीं, देश के कई राज्यों में लगातार बढ़ती ही जा रही है। इस मामले में गृहमंत्री ने भी अपने हाथ खड़े कर दिये हैं यह कह कर कि उनके हाथ बंधे हुए हैं। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नक्सलवाद पर काबू पाने के लिये सेना का इस्तेमाल नहीं किया जायेगा। इन पर काबू पाने के लिए अर्द्धसैन्य बल ही काफ़ी हैं और स्थानीय पुलिस एवं इनमें अच्छा समन्वय है। पिल्लई ने 35 नक्सल प्रभावित जिलों के लिए 13 हजार करोड़ रुपये के पैकेज की घोषणा भी की है। पर भला इस पैकेज से क्या होने वाला है। जब देश के विकसित क्षेत्रों में सरकारी पैसा अफसरशाह और नेता मिल कर हज़म कर जा रहे हैं और उनका कुछ नहीं होता। तो भला इस पिछड़े क्षेत्र में सरकारी पैसे का क्या हश्र होगा, इसे समझना कठिन नहीं है। और क्या इसके पहले पैकेज वहाँ के लिए नहीं गये? आज नरेगा एवं अन्य सरकारी योजनाओं में भ्रष्टाचार का जो खेल हो रहा है, उसे कौन नहीं जानता? अतः जिस पैकेज की घोषणा सरकार ने की है, उससे कोई बात नहीं बनने वाली। वह सारा पैसा सरकारी तंत्र द्वारा ही हज़म कर लिया जायेगा। जहाँ तक नक्सलवाद के उग्र से उग्रतर होते जाने के कारण का सवाल है, अब काफ़ी पहले से ही सरकार इसे कानून-व्यवस्था का मामला नहीं मान रही है, बल्कि इसे अल्प

विकास के कारण उत्पन्न होने वाली समस्या मान रही है। तो जैसा कि गृह सचिव ने तीन से सात सालों में नक्सलवाद को खत्म करने की बात कही है, क्या अल्पविकास या सर्वथा विकास नहीं होने की समस्या को दूर कर दिया जायेगा? एक साधारण आदमी भी इस बात को अच्छी तरह से समझ सकता है कि ऐसा संभव नहीं है। फिर नक्सलवाद पर लगाम कैसे लगेगी?

इस बात को सभी समझते हैं कि गरीबों-आदिवासियों की समस्याओं को दूर करने के लिए नक्सलवादी जिस बड़े पैमाने पर हिंसा का सहारा ले रहे हैं, उससे समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। राज्य की हिंसा सारी हिंसा पर भारी पड़ेगी। ऐसी बात नहीं कि नक्सलवादी आर्थिक पिछड़ेपन और भयंकर गरीबी के पीछे के मूल कारणों को नहीं समझते हैं। इस देश की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप ही ऐसा है कि इमें बहुसंख्यक आबादी का शोषण होना सुनिश्चित है और गरीबी का लगातार बढ़ना भी तय है। इसलिए जब तक देश की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को बदला नहीं जाता और उसे बहुसंख्यक आबादी के हित में नहीं बनाया जाता तब तक गरीबों, आदिवासियों एवं अन्य पिछड़े तबकों को कोई लाभ होने वाला नहीं है। वर्तमान व्यवस्था में उनकी दुर्दशा लगातार बढ़ती ही जानी है। क्या इसे छिटपुट अथवा व्यापक हिंसा से समाप्त किया जा सकता है?

आज आदिवासियों का शोषण और भी ज़्यादा बढ़ गया है। लाखोंलाख की संख्या में उन्हें विस्थापित किया जा रहा है। ऐसा इसलिए किया जा रहा है कि जहाँ

**माओवादियों के सामने यह समस्या है कि वे खुले जनसंगठन किस तरह बनायें। पश्चिम बंगाल में पीपुल्स अगेंस्ट पुलिस एस्ट्रोसीटीज नामक जो संगठन है, उसे भी भारी दमन का शिकार होना पड़ रहा है। ऐसी हालत में नक्सलवादियों के सामने जो समस्या है, वह यह कि वे हिंसा का सहारा न लें तो और क्या करें? अगर वे नागरिक आंदोलन संगठित करते हैं और पूरी तरह अहिंसक बने रहते हैं, फिर भी इन्हें राज्य की हिंसा का शिकार होना पड़ेगा।**

आदिवासी रहते हैं, वहाँ बेशकीमती खनिज पदार्थ हैं और देशी-विदेशी कंपनियों उनका दोहन करना चाहती हैं। ऐसा तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि आदिवासियों को उनके मूल निवास स्थलों से खदेड़ा न जाये। यही कारण है कि छत्तीसगढ़ में दंतेवाड़ा एवं अन्य स्थानों पर आदिवासियों को जंगलों में स्थित उनके गांवों से हटा कर कैंपों में रखा गया है जहाँ उन्हें नाना प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। यह स्पष्ट है कि आदिवासियों को स्थाई रूप से कैंपों में नहीं रखा जा सकता। लेकिन सरकार उनके लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था भी नहीं कर सकती और न ही उनके लिए रोजगार का कोई स्थाई इंतजाम कर सकती है। इसलिए उनके पक्ष में नक्सलवादियों को सरकार से हथियारबंद लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

छत्तीसगढ़ ही नहीं, लालगढ़ अथवा जहाँ भी नक्सलवादी संघर्ष चला रहे हैं, ऐसी ही स्थिति है। नक्सलवादी यह कह सकते हैं कि उनके सामने हथियार उठाने के सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं है। यह बात सच भी हो सकती है। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या सिर्फ हथियारों के बल पर नक्सलवादी अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं। सरकार के खिलाफ़ उनका हिंसात्मक संघर्ष बरसों तक जारी रह सकता है, पर जिस उद्देश्य को लेकर वे काम कर रहे हैं, उस दिशा में सिर्फ़ हिंसा का सहारा लेकर वे कितनी दूर तक बढ़ पायेंगे? यह एक विचारणीय सवाल है जिस पर नक्सलवादियों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

यहाँ सवाल यह भी है कि शोषण सिर्फ़ आदिवासियों का ही नहीं हो रहा है। इस देश की 90 फ़ीसदी आबादी शोषित है। वह तरह-तरह के शोषण के जंजाल में जकड़ी हुई है। शोषण का जाल राष्ट्रीय ही नहीं, अंतरराष्ट्रीय है। बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां देश के संसाधनों को हड़पने के लिए देशी पूंजीपतियों के साथ मिल कर आ रही हैं और सरकार उनके स्वागत में पलक-पांवड़े बिछा रही है। यह विश्व साम्राज्यवाद का दौर है जिसका नेतृत्व अमेरिका के हाथों में है। आज भारत सरकार अमेरिका के कदमों में बिछी हुई है। साम्राज्यवाद के प्रति इसका यह समर्पण अभूतपूर्व है। ऐसे हाल में, विरोध का मतलब हिंसा का बढ़ना स्वाभाविक होगा। पर इससे समस्या का निदान कैसे होगा?

जहाँ तक नक्सलवादी गुप्त संगठनों द्वारा जनसंगठन बनाने और उसे माध्यम से व्यापक जनता के बीच काम करने का

सवाल है, सरकार ने पहले ही यह घोषणा कर दी है कि कोई भी व्यक्ति यदि माओवादियों के पक्ष में बोलता है, लिखता है अथवा संगठन बनाता है तो उसे जन सुरक्षा अधिनियम के तहत कम से कम दस वर्षों के लिए जेल में डाल दिया जायेगा। सरकार की इस घोषणा से पता चलता है कि वह कितने बड़े पैमाने पर दमन-चक्र चला सकती है। इस संबंध में मानवाधिकार कार्यकर्ता डॉ. विनायक सेन का उदाहरण भी भूला नहीं जा सकता जिन्हें इस आधार पर सरकार ने लगभग दो वर्षों तक जेल में बंद रखा कि उनके माओवादियों से संपर्क हैं और वे माओवादियों के प्रति सहानुभूति रखते हैं। डॉ. विनायक सेन की गिरफ्तारी का देश ही नहीं, विदेशों तक में विरोध हुआ। अभी हाल ही में उन्हें कुछ माह पहले छोड़ा गया है।

इन हालात में माओवादियों के सामने यह समस्या है कि वे खुले जनसंगठन किस तरह बनायें। पश्चिम बंगाल में पीपुल्स अगेंस्ट पुलिस एस्ट्रोसीटीज नामक जो संगठन है, उसे भी भारी दमन का शिकार होना पड़ रहा है। ऐसी हालत में नक्सलवादियों के सामने जो समस्या है, वह यह कि वे हिंसा का सहारा न लें तो और क्या करें? अगर वे नागरिक आंदोलन संगठित करते हैं और पूरी तरह अहिंसक बने रहते हैं, फिर भी इन्हें राज्य की हिंसा का शिकार होना पड़ेगा। लेकिन यह बात तय है कि राजसत्ता के खिलाफ़ एक व्यापक जन उभार जिसके लिए स्थितियां परिपक्व हैं, सिर्फ़ हिंसा के आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता।

- प्रतिनिधि

## जनगणना में जाति

# आखिर जाति मिटती क्यों नहीं?

**ज**नगणना में जाति का मसला हल होता नहीं दिख रहा है। बहुत से लोग जहाँ जनगणना में जाति के उल्लेख को शामिल किये जाने का विरोध इस आधार पर कर रहे हैं कि इससे जातिवाद को बढ़ावा मिलेगा, वहीं बहुतेरे लोग और जातिवादी नेता, उदाहरण के लिए जद (यू) अध्यक्ष एवं राजग संयोजक शरद यादव किसी भी कीमत पर जनगणना में जाति को शामिल कराने के लिए कटिबद्ध हैं। कांग्रेस में भी एक ऐसा तबका है जो जनगणना में जाति को शामिल कराने का पक्षधर है। इसके अलावा अन्य पार्टियों में भी ऐसे नेताओं की कमी नहीं है जो जनगणना में जाति गणना को शामिल कराना चाहते हैं। सवाल है कि जनगणना में जाति को शामिल करने से क्या होगा। इससे सिर्फ़ यह रिकार्ड मिल जायेगा कि देश में किस-किस जाति की कितनी संख्या है। कहा जा रहा है कि इससे जातिवाद के आधार पर राजनीति करने वाली पार्टियों और उनके नेताओं को लाभ होगा। उन्हें इस बात के स्पष्ट आंकड़े मिल जायेंगे कि किस जाति की कितनी संख्या है और वह कहाँ-कहाँ है।

देखा जाये तो चुनाव में जाति के नाम पर जो भी राजनीति होती है, वह पिछड़ी और अनुसूचित जातियों को लेकर होती है। चुनाव की राजनीति में तथाकथित उच्च जातियों की कोई

अहमियत नहीं है। इन्हें थोड़ी अहमियत खुली जातिवादी राजनीति करने वाली मायावती ने दी जो दलित जातियों की राजनीति करती हैं, पर राजनीतिक अवसरवाद के तहत उन्होंने 'ब्राह्मण सम्मेलन' तक कराये और ऊंची जातियों को अपने साथ आने का खुला निमंत्रण दिया। वे बहुजन समाज की जगह सर्वजन समाज की बात करने लगीं और इसका स्पष्ट फायदा उत्तर प्रदेश के चुनावों में उठाया।

देखा जाये तो जद (यू), लालू प्रसाद की राजद, रामविलास पासवान की लोजपा आदि जातिवादी दलों की स्थिति मायावती से पूरी तरह भिन्न है। वे पिछड़ी जातियों, निम्न एवं दलित जातियों एवं मुसलमानों के वोटों के आधार पर अपनी पूरी राजनीति को समेटे हुए हैं और जनगणना में जाति के उल्लेख के सबसे बड़े समर्थक हैं। लेकिन अगर जनगणना में जाति का उल्लेख नहीं भी किया जाता तो भी इन्हें कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। इसलिए जनगणना में जाति का उल्लेख किया जाये अथवा नहीं किया जाये, कोई फर्क नहीं पड़ता।

सच्चाई तो यह है कि आज इक्कीसवीं सदी में भी जाति भारतीय समाज की महत्वपूर्ण इकाई बनी हुई है। यद्यपि देश में जातिवाद के खिलाफ़ कई आंदोलन भी चले, पर कोई फर्क नहीं पड़ा। समाज पर जाति की पकड़

**वर्तमान अल्पविकसित व अवरुद्ध एवं परजीवी पूंजीवादी सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे के अंतर्गत जाति एवं इस जैसी अन्य सामंती बुराइयों को खत्म भी नहीं किया जा सकता है। इन्हें तभी समाप्त किया जा सकता है कि जब सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो और उसकी परिणति एक शोषण मुक्त समाज व्यवस्था के रूप में सामने आये।**

काफ़ी मजबूत है। उल्लेखनीय है कि जातिवाद की अन्यायपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ़ उत्तर मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के दौरान ही आवाज़ उभरी थी। उस समय और बाद के काल में भी उच्च जातियों का निम्न जातियों पर काफ़ी वर्चस्व था और यह शोषण का एक बड़ा माध्यम था। पर अब पूरी तरह ऐसी बात नहीं रह गई है। राजनीतिक और व्यवस्थागत परिवर्तनों के कारण उच्च जातियों का सामाजिक-आर्थिक प्रभाव बहुत ही कम रह गया है। फिर भी जातिगत आधार पर होने वाले शोषण से पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता।

जाति तो सामंती समाज की चीज है। इसे अब के विकसित पूंजीवादी समाज में समाप्त हो जाना चाहिए था।

विद्वानों और समाजशास्त्रियों का यह मानना था कि जैसे-जैसे सामंती जकड़न दूर होगी और औद्योगिक विकास होगा, जाति अप्रासंगिक होती चली जायेगी और इसका अस्तित्व मिट जायेगा। पर अभी भी यह मुख्य सामाजिक पहचान बनी हुई है। क्या इससे यह समझा जाये कि समाज का सामंती ढांचा अभी पूरी तरह टूटा नहीं है। अगर चंद उच्चवर्गीय और अति धनाढ्य पश्चिमी संस्कृति में रच-बस चुके आधुनिक लोगों को अपवादस्वरूप छोड़ दिया जाये तो जाति की पहचान समाज की बहुसंख्यक आबादी से खत्म नहीं हुई है। वैवाहिक संबंधों का मुख्य आधार अभी जाति ही है। ग्रामीण समाज में तो जाति आधारित पंचायतों और खापों का वर्चस्व बना हुआ है। इनका यह वर्चस्व कहीं से खत्म होता हुआ नहीं दीखता। ऐसी हालत में अगर जनगणना में जाति को शामिल करने की मांग जोरदार ढंग से उठ रही है तो वह नितांत स्वाभाविक है।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जाति समाज को जोड़ने वाली नहीं, तोड़ने वाली इकाई है। यह सामंती युग की पहचान है। भारत में जो भी पूंजीवादी विकास हुआ है, वह औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक शक्तियों के प्रभाव में अल्प एवं अवरुद्ध रहा है। यहाँ पूंजीवाद एवं राष्ट्रवाद का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है। औपनिवेशिक ताकतों ने

अपने आप को बनाये रखने के लिए पतनशील सामंती शक्तियों से मजबूत गठजोड़ कायम किया था। पूंजीवादी शक्तियों के विकास के साथ अर्थव्यवस्था में सामंती प्रभुत्व तो कमोबेश समाप्त हो गया, पर सामाजिक-सांस्कृतिक अवरचना में सामंती मूल्य बरकरार रहे। उन्हें तोड़ने का कभी कोई योजनाबद्ध कार्यक्रम भी नहीं चलाया गया। स्वतंत्र भारत में कभी कोई ऐसा एक्यबद्ध मजबूत सांस्कृतिक आंदोलन नहीं चला जो समाज को सामंती अवशेषों एवं मूल्यों से मुक्त कराता। बल्कि इसके विपरीत राजनीतिक दलों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामंती मूल्यों और उसके सांस्कृतिक अवशेषों को बनाये ही रखना चाहा। इसी का परिणाम है कि समाज को तोड़ने वाली जाति का अस्तित्व बरकरार है और जाति के आधार पर सामाजिक-आर्थिक शोषण भी मौजूद है।

वर्तमान अल्पविकसित व अवरुद्ध एवं परजीवी पूंजीवादी सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे के अंतर्गत जाति एवं इस जैसी अन्य सामंती बुराइयों को खत्म भी नहीं किया जा सकता है। इन्हें तभी समाप्त किया जा सकता है कि जब सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो और उसकी परिणति एक शोषण मुक्त समाज व्यवस्था के रूप में सामने आये।

- मनोज कुमार झा